



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2017; 3(2): 422-427
 www.allresearchjournal.com
 Received: 07-12-2016
 Accepted: 08-01-2017

विनोद कुमार पटेल

शोध छात्र इतिहास – अ.प्र. सिंह
 विश्वविद्यालय, सीवा, मध्य प्रदेश,
 भारत

19वीं शताब्दी के पूर्व बघेलखण्ड में शिक्षा की स्थिति

विनोद कुमार पटेल

सारांश

मानवीय संवेदना मानव-जीवन का अनिवार्य तत्व है। जिस व्यक्ति के जीवन में व्यापक मानवीय संवेदना की स्वच्छ निर्मल धारा प्रवाहित नहीं है उसका जीवन कभी भी मधुर स्पृहणीय और सश्लाघनीय नहीं हो सकता। मानव जीवन में अभिव्यक्त संवेदना आर्थिक, सांस्कृतिक सामाजिक, और कलात्मक धरातल पर निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों के प्रतीक है। इसके केन्द्र में मनुष्य होता है मनुष्य का इतिहास भी उसके आस-पास ही रहता है इसलिए संवेदना में एक प्रकार का सातत्य रहता है। यदि उसकी संवेदना शाश्वत है तो वह काल विशेष को ही प्रभावित न कर आने वाले युग को भी प्रभावित करती है। संवेदना जीवन का आधार तत्व है।

प्राचीन भारत में शिक्षा का प्रथम उद्देश्य ज्ञान और अनुभव पर बल देना था, उस समय छात्रों को अंकपत्र या उपाधि वितरित नहीं की जाती थी बल्कि उनकी योग्यता का मापदण्ड विद्वत परिषदों में शास्त्रार्थ करके अपने अर्जित ज्ञान का प्रमाण वे स्वयं देते थे अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य केवल पढ़ना नहीं था अपितु ज्ञान और अनुभव को आत्मसात करना था।

छात्रों की चित्तवृत्तियों का विरोध करना शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था। उस समय नश्वर शरीर की अपेक्षा अनश्वर आत्मा को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। आत्मा के उत्थान के लिए जप, तप, योग पर भरपूर बल दिया जाता था। ताकि छात्रों का मन इधर-उधर भटककर मोक्ष प्राप्ति में बाधक न बने।

मूल शब्द: 19वीं शताब्दी, बघेलखण्ड, शिक्षा

प्रस्तावना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता है और कहीं लड़ाता हुआ चला चलता है और इसी को जीना कहते हैं। जिस अनन्त रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है-जगत"।

मनुष्य दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में कभी मधुर अनुभव करता है प्रसन्नता प्राप्त करता है तो कभी दुखी होता है पीड़ा का अनुभव करता है कभी मधुर और कटु दोनों तरह के अनुभव करता है। कभी-कभी सामान्य अनुभव भी करता है जो न कटु होते हैं और न मधुर। मानव-जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब दूसरों के साथ व्यापार में वह अनेक प्रकार के अनुभवों से निकलता है। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है सामाजिकता मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण और अनिवार्य आवश्यकता है। यूनानी दार्शनिक, अरस्तु ने समाज की आवश्यकता के सन्दर्भ में कहा था। वैसे तो प्रत्येक वस्तु समाज के प्रति जागरूक रहती है। मनुष्य की समाजिकता तो महत्वपूर्ण है ही पर उसकी मानसिकता, उसकी संवेदनशीलता कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यही मानसिकता कवि और शास्त्रकार को समाज से और युगीन संदर्भों से जोड़ती है।

मानव की संवेदन शक्ति और सामाजिक सरोकार उसे अन्य प्राणियों से उत्कृष्ट सिद्ध करते हैं। इस प्रयास से मनुष्य की विवेक बुद्धि जागृत हुई। और आज प्रत्येक क्षेत्र में उसकी पहुँच की इयत्ता नहीं है। इस पहुँच के लिए उसे अपनी कल्पनाशीलता और ऊर्जस्विता का सहारा लेना पड़ता है। साधना करनी पड़ती है, इसलिए साधना के माध्यम से ही मानव मूल्यों की स्थापना की जाती है। मनुष्य ने अपनी श्रम यात्रा में जिन कतिपय उदात्त मूल्यों की प्राप्ति की है। उसे पशु जगत से पृथक करते हैं। ऐसे मानव मूल्यों में करुणा, क्षमा, शील, सौहार्द, सौजन्य, शान्ति, अहिंसा, सहअस्तित्व आदि मानवीय तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जो दोनों जगत में विभाजन रेखा खींचते हैं। सामाजिक और संवेदनशील प्राणी होने के कारण उसका दायित्व है कि वह उसके लिए, लोक कल्याण के लिए काम करें।

Correspondence

विनोद कुमार पटेल

शोध छात्र इतिहास – अ.प्र. सिंह
 विश्वविद्यालय, सीवा, मध्य प्रदेश,
 भारत

मनुष्य में जिजीविषा³ है, वह जीना चाहता है, वह अपने को प्रकट भी करना चाहता है। अभिव्यक्ति उसकी मूल आवश्यकता है। जिस प्रकार जीने के लिए भोजन, पानी, शयन जागरण, की आवश्यकता है। उसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति की भी है। वह अपने आपको प्रकट करने का अवसर ढूँढता है। अवसर मिलते ही वह जो कुछ भी है उससे अधिक अपने आपको प्रकट करता है। यह प्रकटीकरण अपने हृदय को आनन्द के लिए और कभी दूसरों को आकृष्ट करने के लिये उनके मनोरंजन और उपदेश के लिए होता है। जब वह धीरे-धीरे गुणगुनाता है तब अपने सुख-दुःख को वाणी देता है और जब वह पूरे सुर के साथ लोगों के सामने गाता है तब वह दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। जिस प्रकार सघन बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान लगाया जा सकता है। उसी प्रकार चेहरे पर बिछी लकीरों को देखकर उस व्यक्ति में व्याप्त भय क्रोध प्रेम विवक्षण और निरीहता को अच्छी तरह देखा और परखा जा सकता है। इसका निरीक्षण और परीक्षण हर किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है। कोई पारखी व्यक्ति ही इसे पढ़ सकता है। जिस तरह राह चलते व्यक्ति से प्रेम नहीं किया जा सकता घृणा नहीं की जा सकती उसी प्रकार राह चलते व्यक्ति के सामने अपने आपको अभिव्यक्त भी नहीं किया जा सकता। अभिव्यक्ति को सही रूप देने के लिए दो बातों की आवश्यकता रहती है। पहली आवश्यकता है वक्ता के जीवन की गहराई में पैठ और दूसरी है श्रोता में समझने की शुद्ध समर्थता यहाँ भी मूल में संवेदना ही रहती है। मानव ने कभी रंगों को गहराई दी कभी तूलिका द्वारा आडी तिरछी सीधी सपाट रेखाओं को वाणी दी। कभी छेनी द्वारा निर्जीव वस्तुओं में प्राण फूँके और कभी शब्दों द्वारा दूसरों को आर्द्र किया। इस प्रकार रंगों की गहराई रेखाओं की वाणी प्रस्तर खण्डों की जीवन्तता तथा शब्दों के गीलेपन द्वारा कला का जन्म हुआ। अटूट आस्था और अनवरता साधना द्वारा कला का संस्कार हुआ है यही संस्कारित कला मानव के अन्तरतम को बाँधने में सफल होती है। वह कालगत और देशगत सीमा का अतिक्रमण कर सहृदय के दूरस्थ संसार में पहुँच जाती है। कारण है कि प्रत्येक देश और युग की कला का महत्व सर्वत्र स्वीकार किया जाता है।

काव्य में शब्द और अर्थ कला का माध्यम⁴ बनते हैं। रचनाकार शब्दों के माध्यम से सहृदय पाठक या अध्येता के साथ साक्षात्कार करता है। जिस प्रकार पदचाप में व्यक्ति का आकार छिपा रहता है उसी प्रकार शब्दों में भी कवि का आकार रूप छिपा रहता है। रचनाकार अपने भीतर को प्रकट करता है। उन भीतरी भावनाओं की जो पहले किसी कारणवस नहीं प्रकट हो पाई थी। जिस प्रकार उचित समय में वायु जल ऊष्मा पाकर बीज से अंकुर फूट निकलता है उसी प्रकार समुचित कारण से सुख दुःख के गहरे अनुभावे से कवि का हृदय शब्द बनकर फूट निकलता है। व्याध के वाणों से विद्ध क्रौंच पक्षी की मर्मान्तक पीड़ा और उसके सहचर के करुण क्रन्दन से महर्षि वाल्मीकि की संवेदना मुखरित हो उठी—“मा निषाद प्रतिष्ठां त्व”⁵।

हे निषाद ! तुमने प्रेम से डूबे क्रौंच पक्षी को मार डाला अतः तुम अनन्त वर्षों तक प्रतिष्ठा न प्राप्त करो। महर्षि की संवेदनामयी वाणी को सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिए उनसे कहा। इसी प्रेरणा के फल स्वरूप महर्षि वाल्मीकि ने उत्तम काव्य वाल्मीकि रामायण की रचना की। इस रचना से हम भारतीय ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व उपकृत हुआ है। कवि सार्वजनिक सत्य का उद्घाटन करता है वह अपनी विशिष्ट समवेदनाओं को प्रकट करता है। उन्हीं समवेदनाओं को वाणी देता है जो पाठक के अन्तस्तल का स्पर्श कर सकती है। जहाँ साधारण अभिव्यक्ति में मनुष्य का उद्देश्य केवल विचारों का आदान प्रदान रहता है। वहाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति में विषय और शैली की समन्वित शक्तिमत्ता विद्यमान होती है यही कारण है कि काव्य की अभिव्यक्ति इतिहास भूगोल दर्शन अर्थ शास्त्र से भिन्न है।

सत्य तो यह है कि उक्ति की विविधता ही साधारण मनुष्य और कवि में अन्तर ला देती है। यही उक्ति-वैविध्य या उक्ति वैचित्र्य कवि को साधारण से असाधारण बना देती है। वस्तुतः उक्ति सौन्दर्य ही कवि की भावना कला का माप दण्ड है। भाव चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो। शैली की मूलवत्ता को नकारा नहीं जा सकता। जब तक कवि अपनी अनुभूति को शब्दों के साँचे में नहीं ढाले-अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने की योजना बनाये किसी हृदय की गहराई तक नहीं पहुँचे तब तक उसका कार्य पूरा नहीं होता। उसकी कल्पना अलंकरण सौन्दर्य के बिना कविता भी आकार विहीन⁶ है। अपने काव्य को चिरंजीवी बनाने के लिए कवि सुन्दर शब्द विन्यास, समर्थ सिद्ध भाषा, प्रणय सौन्दर्य जन्य अलंकरण सजीव जीवन्त को मलता का चयन करता है।

साहित्य समाज का दर्पण⁷ है। सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, अच्छा, बुरा, मान, अपमान, इन सब का विस्तार ही तो समाज है। इन सबके मूल में संवेदनाएं ही हैं। कभी हम लोगों के सुख में सुखी होते हैं कभी उनके दुःख में दुखी होते हैं। कभी हम अन्याय के विरोध में उनका साथ देते हैं कभी उनके प्रणय व्यापार के सहयोगी बनते हैं। मानवीय संवेदना की यही भूमिका है यही स्वरूप है कि हम मानव के साथ मानव बनकर रहते हैं। और अन्य प्राणियों के साथ भी वही मानवीय व्यवहार करने की चेष्टा करते हैं। यही हमारी संवेदना पर निर्भर है कि हम रति, करुण, क्रोध, उत्साह, भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य गाम्भीर्य आदि भावनाओं को अपने हृदय में कैसा प्रभाव डालते हैं। जहाँ लोक में इन भावों या भावनाओं का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वहीं साहित्य रूपी दर्पण में हम उनका प्रतिबिम्ब देखते हैं। लोक के इन भावों का ही काव्य में “साधारणीकरण” होता है। मानव वही है जिसे लोक की पहचान हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मानव जाति के हृदय को देख सके और उसके सुख दुःख की पहचान कर सके।

जिस मनुष्य की हृत्तन्त्री दूसरे के आनन्द के अवलोकन से स्वतः बजने लगती है जिसका हृदय दिन तथा अन्तर्जनों की करुण क्रन्दन से पिघल उठता है जो जगत् के प्राणि मात्र के साथ तादात्म्य अनुभव कर उनके हर्ष में हृष्ट, विषाद, में विषण्ण, हास्य में प्रसन्न, क्रोध में दीप्त, अनुराग में अनुरक्त होने की शक्ति से युक्त होता है वह मानव नहीं महामानव है। ऐसा व्यक्ति ही सही अर्थों में मानवीय संवेदना से युक्त होता है। ऐसे व्यक्ति के हृदय को क्षुद्र स्वार्थ की भावना कभी प्रेरित नहीं करती प्रत्युत परोपकार के नाम पर उसका चित्त नाच उठता है। उनके जीवन का “स्व” पर रूप में स्वतः परिणत हो जाता है और वह मानव के चरम विकास पर पहुँच जाता है, हृदय की संकीर्णता ही बन्धन है और हृदय की उदारता ही मुक्ति है। जो मनुष्य अपना-पराया, जाति-पाँति, छुआ-छूत, धनी-निर्धन, लाभ-हानि के विवेचन में दिन काटता है वह खुले स्थान में रहने पर भी हृदय के कारागार में निवास करता है, परन्तु जिसका हृदय “वसुधैव कुटुम्बकम्” मंत्र की उपासना से उदात्त तथा विशाल है वह मनुष्य मुक्ति का आनन्द प्राप्त करता है जिस प्रकार ज्ञान-योग प्राणिमात्र में एक ही परमात्मा का प्रतिपादन कर अद्वैत का उपदेश देता है उसी प्रकार प्राणिमात्र में रागत्मिका वृत्ति का प्रतिपादन भी भाव योग की चरम सीमा है।⁸ इस उदात्त भाव योग की सिद्धि मानवीय संवेदना के द्वारा होती है।

वस्तु की जिस विशेषता के अभाव में वस्तु की सत्ता नहीं विद्यमान रह सकती उसे उस वस्तु का गुण कहते हैं प्रत्येक गुण का अपना निजी गुण होता है जो उस वस्तु को दूसरी वस्तुओं से अलग करने में सहायक होता है। वस्तुओं के गुण को विशिष्ट गुण की संज्ञा दी जाती है। यह उस वस्तु का स्वरूपाधायक तत्व होता है। उदाहरणार्थ-सूर्य का गुण है ताप, चाँद का गुण है शीतलता, ताप के अभाव में सूर्य तथा शीतलता के अभाव में चाँद का कोई अस्तित्व ही नहीं। मनुष्य में उसकी चिन्तनशीलता का

रहना उसका गुण है, जिसके अभाव में मनुष्य-मनुष्य नहीं रह जाता।

दूरस्थ अतीत में शिक्षा का व्यवस्थित रूप नहीं दिखता, हँ वैदिक काल की शिक्षा में ब्राह्मणों का वर्चस्व था, इसीलिए वैदिक कालीन शिक्षा को "ब्राह्मणीय शिक्षा" या 'हिन्दू शिक्षा' की संज्ञा भी दी गई। वैदिक कालीन शिक्षा ने ऐसी स्तुत्य प्रणाली विकसित की कि विराट वैदिक साहित्य को सुरक्षित रखा गया। और कई शताब्दियों तक कंठ के छापेखाने में संरक्षित रखा गया। वैदिक साहित्य में "शिक्षा" राष्ट्र को विद्या, विनय, बोध और ज्ञान के अर्थ में जाना गया। वस्तुतः शिक्षा शब्द का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में किया जाता रहा है। डा. ए. एस. अल्टेकर के शब्दों में 'व्यापक अर्थों में शिक्षा का तात्पर्य है व्यक्ति को सभ्य और उन्नत बनाना। इस दृष्टि से शिक्षा अजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। सीमित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय उस औपचारिक शिक्षा से है जो व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व छात्र के रूप में गुरु से प्राप्त होती थी।⁹

शिक्षा को व्यक्ति का चहुंमुखी विकास करने, सुखद जीवन जीने, और अंतिम पुरुषार्थ मोझ प्राप्त करने में सहायक माना गया तभी तो एफ डब्ल्यू टामस ने भारत के इस गौरव पूर्ण अतीत की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है— "भारत में शिक्षा विदेशी पौधा नहीं है। संसार का कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ ज्ञान के प्रति प्रेम का इतने प्राचीन समय में आविर्भाव हुआ हो, या जिसने चिरस्थायी और शक्तिशाली प्रभाव डाला हो।¹⁰

प्राचीन भारतीयों का विचार था कि शिक्षा व्यक्ति में सारे संशयों का अन्मूलन और सभी बाधाओं का निवारण करते हुए अन्तरदृष्टि, विवेक, और कौशल में वृद्धि करती है। अर्थात् शिक्षा व्यक्ति को सर्वगुण और वास्तविक शक्ति से सम्पन्न करती है, साथ ही जीवन में यथार्थ को समझने की ताकत देकर व्यक्ति के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करती है। डा. ए. एस. अल्टेकर ने लिखा है— "शिक्षा को प्रकाश और शक्ति का ऐसा स्रोत माना जाता था जो हमारी शारीरिक, मानसिक, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरंतर एवं सामंजस्य पूर्ण विकास करके हमारे स्वभाव को परिवर्तित करती है और उसे उत्कृष्ट बनाती है"।¹¹

डॉ. आर. के. मुकर्जी के शब्दों में— "शिक्षा का उद्देश्य चित्तवृत्ति निरोध अर्थात् मन से उन कार्यों का निषेध था जिनके कारण वह भौतिक संसार में उलझ जाता था।"¹²

प्राचीन भारत में शिक्षा का तीसरा उद्देश्य था— छात्रों में ईश्वरभक्ति और धार्मिकता की भावना का समावेश करना "सा विद्या या विमुक्तये"—शिक्षा का सार्थक रूप वही माना गया जो मनुष्य को आवागमन से मुक्ति दिला सके। इस तरह छात्रों को व्रत, यज्ञ, उपासना, धार्मिक उत्सव आदि के माध्यम से इस भावना को विकसित किया जाता था।

छात्रों के चरित्र का निर्माण करना प्राचीन भारत में शिक्षा का चौथा उद्देश्य था। उस समय व्यक्ति के पांडित्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण चरित्र था, उत्तम वातावरण, महापुरुषों के कर्तृत्व, सदाचार के उपदेश और महान विभूतियों के आदर्शों के द्वारा छात्रों के चरित्र का निर्माण करना था। डॉ. वेदमित्र का कथन है— "छात्रों का चरित्र निर्माण करना शिक्षा का एक अनिवार्य उद्देश्य माना जाता था।"¹³

प्राचीन भारतीय शिक्षा का पांचवा उद्देश्य छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था। आत्मसंयम, आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास जैसे - सदगुणों को उत्पन्न करते हुए गोष्ठियों, विद्वत सभाओं का आयोजन कर उनमें न्याय निष्पक्षता और विवेक की शक्तियों को उभारकर मजबूत बनाया जाता था।

छात्रों में नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने की भावना का समावेश करना प्राचीन भारत में शिक्षा का छठवाँ उद्देश्य था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गुरु द्वारा छात्रों को वैदिक साहित्य की निःशुल्क शिक्षा देना, अतिथियों का सत्कार

करना दीन-दुखियों की सहायता करना और दूसरों के प्रति निःस्वार्थता का व्यवहार करना तथा पुत्र-पिता और पति के रूप में अपने कर्तव्य का पालन करना था ताकि गृहस्थ जीवन व्यतीत करते समय अपने नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर सके।

सामाजिक कुशलता में उन्नति करना प्राचीन भारत में शिक्षा का सातवाँ उद्देश्य था जिसके तहत छात्रों को उनकी रुचि और वर्ण के अनुसार किसी उद्योग या व्यवसाय की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। इस तरह व्यक्ति सैद्धान्तिक और साहित्यिक भर न रहे बल्कि किसी शिक्षा से सम्बन्ध होकर सरलता से अपनी जीविका का उपार्जन करके अपने सुख में अधिकवृद्धि कर सके। राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार करना प्राचीन भारत में शिक्षा का अंतिम उद्देश्य था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पिता अपने पुत्र को अपने व्यवसाय में दक्ष बनाता था। हर आर्य को वैदिक साहित्य के किसी न किसी भाग का अध्ययन करना पड़ता था। इससे उसे कोई व्यक्तिगत लाभ न हो पर, पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को सुरक्षित रखता था और उसका प्रसार भी करता था। इस तरह प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श व्यक्ति में लौकिक और पारलौकिक जीवन की सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया गया था।

बघेलखंड में शिक्षा प्राचीनकाल से ही उन्नत सोपान पर रही है। इसका एक बड़ा कारण यहाँ के शासकों का कला और साहित्य में मर्मज्ञ होना रहा है। जिन्होंने स्वयं साहित्य और संगीत के विभिन्न आयामों का सृजन किया, और कला को अपने राज्य में प्रतिस्थापित किया। बघेलखंड के बदलते कालक्रमों में जितने भी शासक रहे हैं वे खुद कुलीन शिक्षा से पारंगत थे और उन्होंने अपने शासनकालों में शिक्षा के विकास के लिए दूरगामी प्रयास किया। बघेलखंड में 19वीं शताब्दी से पूर्व शिक्षा के जो बिखरे हुए सूत्र मिलते हैं उनसे भी कमोबेश यही ध्वनि निकलती है।

चूंकि बघेलखंड का सम्पूर्ण क्षेत्रफल दण्डकारण्य से भरपूर था। यह क्षेत्र प्राकृतिक कन्दराओं, घाटियों और घनघोर जंगलों से आच्छादित रहा है। इस कारण से इस क्षेत्र में जनजागृति की परिस्थितियाँ अन्य क्षेत्रों की तुलना में काफी बाद में तैयार हो पायी। चूंकि बघेलखंड में आजादी के बहुत पहले शिक्षा का प्रारंभिक स्वरूप कुलीन रहा है। इस कारण से शिक्षा विद्यालयीन रूप में कम राजमहल की अंगनाइयों में ज्यादा विकसित होती दिखाई देती है। जैसे-जैसे नागरिक सभ्यता ने विकास के नये आयाम हासिल किये वैसे-वैसे बघेलखंड में भी नागरिकों की सोच में परिवर्तन आया और शिक्षा का विकास मन्द गति से होना प्रारंभ हुआ।

बघेलखंड में 19वीं शताब्दी से पूर्व किसी भी प्रकार के विद्यालयों के प्रमाण हमें नहीं प्राप्त होते हैं। विद्यालय की जगह घरों एवं महलों में यथेष्ट विद्वानों के द्वारा शिष्यों को शिक्षा में पारंगत किया जाता था। बघेलखंड के राजकुमारों को राजमहल के अंदर ही विद्वान ब्राह्मणों के द्वारा शिक्षित किए जाने के सूत्र मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप महाराजा अजीत सिंह को विद्वान ब्राह्मणों के द्वारा हिन्दी, और संस्कृत की शिक्षा उनके राजमहल के अंदर ही प्रदान की गई थी।

15वीं शताब्दी के बाद बघेलखंड में जितने भी शासक हुए हैं उनमें अन्य राज्यों की सभ्यताओं व संस्कृतियों का सीधा असर रहा है। इस कारण से उन्होंने अपने राज्य में अपने हित के अनुसार जनता को शिक्षित व संस्कारित करना प्रारंभ कर दिया था। शिक्षा के साथ ही सार्वजनिक विस्तार के जितने भी कार्य उनके कार्यकाल में हुए हैं वे इस बात के प्रमाण हैं।

बघेलखंड के शासक महाराज जयसिंह जूदेव के शासनकाल से यहाँ शिक्षा का निरंतर विस्तार होता चला आया है। बघेलखंड में शिक्षा के विस्तार में यहाँ के शासकों के साथ ही यहाँ की राजकीय महारानियों का भी बड़ा योगदान रहा है। इसका कारण यह था कि बघेलखंड के ज्यादातर शासकों के वैवाहिक संबंध

पढ़े-लिखे व शिक्षित राजघरानों जैसे- मेवाड़, जयपुर, जोधपुर, गुजरात और रतलाम में हुए थे। ये महारानियाँ स्वयं तो शिक्षित ही थीं उन्होंने अपने मन में शिक्षा की लौ को अक्षुण्ण बनाये रखने की ललक रखी और अप्रत्यक्ष रूप से बघेलखंड में शिक्षा के विकास में अपना योगदान दिया।¹⁴

19वीं शताब्दी से पूर्व बघेलखंड में शिक्षा की कोई नियोजित व्यवस्था नहीं थी न ही कोई विद्यालय था और न ही किसी अन्य शैक्षणिक संस्थानों के अस्तित्व के संबंध में कोई लिखित प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होते हैं। उस काल में मुख्य रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, खासकलम (कायस्थ) और कुछ मुसलमान वर्ग के लोग ही शिक्षित थे। इनमें ब्राह्मण, खासकलम तथा मुसलमानों का पढ़ा-लिखा वर्ग लोगों को उनके घरों में जाकर पढ़ाता था या अपने घर पर ही बुलाकर शिष्यों को विद्याध्ययन कराया जाता था। इन तीनों वर्गों के लोग ही राजघरानों तथा उच्च वर्गों के बच्चों को उनके घरों में भी जाकर पढ़ाते थे।

उस समय बघेलखंड में शिक्षा की जितनी भी प्रगति हुई थी उसमें निम्न तीन वर्गों के लोगों की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी-

1- खासकलम (कायस्थ):-“खासकलम” कायस्थ जाति के लोग थे जिनका प्रमुख पेशा अध्ययन, अध्यापन व शासन के कार्यालयीन कार्यों में राज्य की मदद करना था। इस वर्ग के सभी लोग शिक्षा में सबसे अधिक विश्वास करते थे और शिक्षा को ही अपना धर्म मानते थे। यही कारण था कि यह वर्ग उस समय का सबसे अधिक पढ़ा-लिखा व शिक्षित वर्ग था। यह वर्ग उस काल का विद्वान वर्ग माना जाता था। तत्कालीन खासकलम राजाओं, महाराजाओं, सरदारों, इलाकेदारों व पवाईदारों के बच्चों को उनके घरों में जाकर विद्याध्ययन करवाते थे इसी से इनका जीवन चलता था। इस वर्ग का दूसरा कार्य तथा राजकीय अधिकारियों के कार्यों में उनकी मदद करना। उस काल के अधिकारी खासकलमों से ही अपना संपूर्ण कार्यालयीन कार्य करवाते थे, वे मात्र उन फाइलों में हस्ताक्षर अथवा अंगूठा लगाते थे।

इस प्रकार “खासकलम” उस काल का ऐसा वर्ग था जिसका मुख्य कार्य राज्य में शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना था। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व बघेलखंड में शिक्षा की ज्योति जलाने में इन खासकलमों का अतुलनीय योगदान था। यह वर्ग मुख्य रूप से हिन्दी भाषा की शिक्षा देता था।

2- ब्राह्मण :- खासकलमों के अलावा ब्राह्मण वर्ग के लोग भी उस काल में लोगों को शिक्षित करने का कार्य मुख्य रूप से करते थे। राजाओं व महाराजाओं के बच्चों को शिक्षित करने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से इसी वर्ग के हाथ में होती थी। ब्राह्मणों के द्वारा मुख्य रूप से संस्कृत भाषा की शिक्षा दी जाती थी। उस काल के राजा अन्य राज्यों के विद्वान ब्राह्मणों को अपने राज्य में आश्रय देते थे तथा उनसे लोगों को शिक्षित करने का काम करवाते थे। इसके बदले में उनको राजमहल के द्वारा धन अथवा जमीन दी जाती थी, इस जमीन को पैपखार कहा जाता था।

3- मुसलमान :- उस काल में मुसलमानों का भी एक वर्ग था जो थोड़ा पढ़ा-लिखा था, इस वर्ग के द्वारा राज्य के लोगों को उर्दू की शिक्षा दी जाती थी। उर्दू भाषा में राज्य के लोगों को पारंगत करने का कार्य इन्हीं पढ़े-लिखे मुसलमानों के हाथों में था।

इस तरह से देखें तो खासकलमों, ब्राह्मणों तथा मुसलमानों ने 19वीं शताब्दी से पूर्व बघेलखंड में शिक्षा का प्रकाश फैलाने में अप्रतिम योगदान दिया। उस काल में बघेलखंड में शिक्षा का जितना भी विकास हुआ वह इन तीनों विद्वान वर्गों के कारण ही संभव हुआ था।¹⁵

शिला-लेख और ताम्र-पत्र

बघेलखण्ड में कई शिला-लेख और ताम्रपत्र पाये गये हैं, जिनसे भी बघेलखण्ड के इतिहास व शिक्षा पर प्रकाश पड़ता है। उनमें

से कुछ प्रमुख शिलालेखों और ताम्र-पत्रों का विवरण संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

(1) ककरेड़ी - यहां पर प्राचीन नगर के अवशेष बिखरे पड़े हैं। यह महाराणकों की राजधानी थी। ककरेड़ी से महाराणाक शासकों के 1175 से 1195 ई. तक के ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे कलचुरियों की सत्ता मानते थे। परन्तु 1195 ई. के उनके ताम्र पत्रों से मालूम होता है कि वे अब चन्देलों का आधिपत्य स्वीकार करने लगे थे। इस प्रकार इन ताम्र पत्रों से प्रकट होता है कि 1195 और 1239 ई. के बीच चन्देलों ने कलचुरियों को पराजित कर इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ककरेड़ी रीवा जिले के सिरमौर तहसील में स्थित है।

(2) ऊँचहरा के राजा वीरराज देव प्रतिहार के शिलालेख - वीरराजदेव के अभी तक 15 शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनका उल्लेख (जिला-सतना) के श्री राम लखन सिंह ने अपने ग्रन्थ “प्रतिहार राजपूतों का इतिहास” में किया है। इन शिलालेखों से ऊँचहरा-राज्य और वीरराजदेव के विषय में जानकारी मिलती है।

(3) गहोरा-शिलालेख - यह सती शिलालेख बघेल राजा बुल्लार देव का है, जो 1360 है (संवत् 1417, ज्येष्ठ - 13, दिन-बुधवार) को निर्मित किया गया था। यह शिलालेख प्रयाग संग्रहालय, (इलाहाबाद) में सुरक्षित है। यह शिलालेख बुल्लारदेव के बारे में जानकारी देता है।

कला साहित्य

साहित्य के अन्तर्गत गीत गाने, पूजापाठ, कर्मकाण्ड आदि विषय भी आते हैं। ये सभी शिक्षा को सुदृढ़ बनाते हैं। बघेलखण्ड की शिक्षा में इनका बाहुल्य था। लोक साहित्य लोक जीवन का प्रतिबिम्ब होता है जो गीत, कहानियों और पहेलियों के रूप में प्रत्येक समाज में विद्यमान रहता है। बघेली भाषा में जन्म, मुण्डन, जनेऊ और विवाह के समय यहाँ जो गीत गाये जाते हैं, वे वास्तव में शताब्दियों से पीढ़ी दर पीढ़ी को हस्तान्तरित होने वाला लोक साहित्य है। इसी तरह देवीपूजा के गीत, कजली, झूला और खजुलइयों के गीत, डेढ़िया गीत, तुलसी के विवाह गीत, फाग और होली, बनरा, सोहाग, कलेवा, बिदाई, सोहर, बधाव आदि त्यौहारों के गीत प्रचुर मात्रा में यहाँ प्रचलित हैं। राम-सीता के जीवन की कथाएं, आल्हा-ऊदल की कहानी तथा बघेल राजपूतों के युद्ध या वीरता की कहानियाँ भी प्रचलित हैं। इस क्षेत्र में बघेली पहेलियाँ भी प्रचलित हैं जो अत्यन्त साधारण शब्दों में गूढ़ अर्थ प्रस्तुत करती हैं। बघेली भाषा इलाहाबाद तथा मिर्जापुर के दक्षिणी भाग में प्रचलित है, जिसका केन्द्र स्थान रीवा है। बघेली भाषा का साहित्य पद्य एवं गद्य दोनों ही रूप में पाया जाता है। इसका लोक साहित्य सम्पन्न है। बघेली रामायण, परशुराम वार्ता, बघेली किशन तथा, बघेली भजन, बघेली गारी, बैजू की सूक्तियाँ, सैफू करे बात, काका केँ बात आदि प्रसिद्ध बघेली रचनाएँ हैं। वीरभानूदय महाकाव्य, रामचन्द्रयशः प्रबन्ध, वीरभद्रदेवचम्पू, बघेलवंश वर्णनम्, श्रुति सूत्र तात्पर्यामृत, ब्रम्हसूत्र-भाष्य, सर्व सिद्धान्त ग्रन्थ, राम मन्त्रार्थनिर्णय, तत्वमस्यर्थ-सिद्धान्त, कन्दर्पचूणामणि, दशकुमार-पूर्व कथा सार, रामपरत्वम् संस्कृत भाषा के अद्वितीय ग्रन्थ हैं, जो यहाँ की धरती पर लिखे गये हैं। संस्कृत के महाकवि माधव से 16वीं शताब्दी में वीरभानूदय महाकाव्य लिखा था। गोविन्द भट्ट का रामचन्द्रयशः प्रबन्ध प्राच्यवाणी प्रकाशन की ओर से 1946 में प्रकाशित किया गया था। महाराज रामचन्द्र के पुत्र वीरभद्र देव ने कामशास्त्र पर प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ “कन्दर्पचूणामणि” की रचना की थी। इनकी एक अन्य रचना दशकुमार-पूर्वकथा-सार की पाण्डुलिपि रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में (क्रं. जी/9368) सुरक्षित है। पद्यनाम मिश्र ने युवराज वीरभद्रदेव की प्रशस्ति में वीरभद्रदेवचम्पू काव्य की रचना की थी। इन्होंने 15 संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी। रूपणि मिश्र ने बघेलवंश वर्णनम् ग्रन्थ की रचना की थी।

महाराज विश्वनाथ सिंह के दीक्षा गुरु श्री प्रियादास ने श्रुति सूत्र में 44 ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या की थी। स्वयं महाराज विश्वनाथ सिंह संस्कृत के उद्भट विद्वान थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य, सर्व सिद्धान्त, राम रहस्यत्रयार्थ, राम मन्त्रार्थनिर्णय, तत्वमस्यर्थ-सिद्धान्त, रामपरत्वम्, बाल्मीकि रामायण की टीका, अध्यात्म रामायण की ध्वनि प्रकाशित टीका, राम गीता की प्रबोधका टीका, वेद स्तुति टीका, भक्ति रसामृत सिन्धु टीका, श्रीमद् भागवत तिलक, धनुर्विद्या, धर्मशास्त्र, संगीत-रघुनन्दनम्, रामचन्द्राहिनकम्, हिन्दी नाटक आनन्द रघुनन्दन का संस्कृत भावानुवाद आनन्दरघुनन्दननाटकम्, गोपाल चम्पू आदि संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी। इनके पश्चात् महाराज विश्वनाथ सिंह के अनुज रावेन्द्र बलभद्र सिंह ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, कृष्णविवरण, लोचनग्रन्थ तथा वृत्ति बोध की रचना की थी। महाराज रघुराज सिंह ने संस्कृत में लोकनाथाष्टक, सुधर्माविलास, जगदीशशतक, नर्मदाष्टक, जगन्नाथ शतक, रघुराजमंगल-चन्द्रावली, शम्भूशतक आदि स्तुति काव्यों की रचना की। जगदीश-शतक यहां के गीतकाव्यों में प्रथम स्थान रखता है।

रेवांचल की धरती महर्षि बाल्मीकि, कालिदास, बाणभट्ट, गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य केशवदास, महाकवि भूषण और पद्माकर आदि को प्रिय रही है। आदिकालीन साहित्य अप्रकाशित होने के कारण लोगों के सामने नहीं आ सका, किन्तु यह सत्य है, कि यह धरती कवियों एवं साहित्यकारों को जन्म देने वाली है। इतिहास में महाराज जयसिंह देव द्वारा लिखे 28 ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनमें भक्तिकाल की प्रवृत्ति युक्त रचना "हरिचरित चन्द्रिका" तथा "कृष्ण तरंगिनी" प्रसिद्ध है। इनके पुत्र महाराज विश्वनाथ सिंह ने रामभक्ति को अपनी रचनाओं में प्रमुखता दी थी। इन्होंने 30 ग्रन्थों की रचना की जिनमें "आनन्द रघुनन्दन" हिन्दी साहित्य का प्रथम नाटक है। महाराज विश्वनाथ सिंह के पुत्र महाराज रघुराज सिंह भी कृष्णोपाषक थे। उनकी लिखी रचनाओं में कृष्ण गीतावली, रूक्मणी परिणय तथा राम स्वयंवर अत्यंत प्रसिद्ध है। महाराज रघुराज सिंह के द्वारा लगभग 56 ग्रन्थ लिखे गये थे, किन्तु कुछ हिन्दी साहित्य के विद्वान इनकी संख्या 28 मानते हैं। वे जनमना के कवि थे। काव्य प्रतिभा उन्हें विरासत में मिली थी। वेदान्त, तर्कशास्त्र, राजनीति और संगीत के ज्ञाता थे। महाराज रघुराज सिंह के पुत्र महाराज वेंकट रमण सिंह ने रीवा में 'दरबार प्रेस' की स्थापना की तथा हिन्दी साहित्य की अनमोल रचनाओं को प्रकाशित कराया। उर्दू साहित्य का प्रथम ग्रन्थ "बघेल खण्ड का इतिहास" मौलवी रहमान अली द्वारा महाराज विश्वनाथ सिंह (सन् 1833-54) के समय लिखा गया, किन्तु वह प्रकाशित नहीं हो सका। उर्दू साहित्य के विद्वान हाफिज फैंजान खॉं ने उर्दू भाषा में कई आलेख लिखे थे। उनकी नज्म के कुछ शेर बहुत प्रसिद्ध थे। रीवा में पहले उर्दू मुशायरे की शुरुआत मीर रूस्तम अली के घर में सन् 1890 में हुई थी। इस मुशायरे में तत्कालीन प्रसिद्ध शायर प्रेम शंकर सागर, मीर असद अली, अबू सईद, मीर शाकिर अली, शेख इलाही बख्श, गंगा प्रसाद और शिव प्रसाद ने भाग लिया था। इसी जमाने में एक सूफ़ी सन्त नजफ अली शाह भी रीवा आये थे। उल्लेखनीय है, कि रीवा में उर्दू भाषा की शिक्षा की शुरुआत मौलवी रहमान अली ने किया था, जिन्हें महाराज विश्वनाथ सिंह ने इलाहाबाद से बुलाकर रीवा की नागरिकता प्रदान की थी। पहली बार सन् 1882 में "हिदायतनामा माल" और "हिदायतनामा फौजदारी" को उर्दू में लिखवाकर तहसीलदारों को राज्य की ओर से वितरित कराया गया था। सन् 1892 में इन्हें प्रकाशित कराया गया। महाराज रघुराज सिंह के समय रीवा में उर्दू के अनेक शायर थे, जिनमें मीर शाकिर अली, मौलवी अयाज अली (शहर काजी, रीवा) मूसा हुसैन, जामिन अली, जान मोहम्मद, छोहार खॉं, मसीहुज्जमाँ और मौलवी हिफजुल करीम मुख्य थे। बघेलखण्ड की धरती असाधारण गुणों से युक्त है, जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण राष्ट्रीय रत्न शास्त्रीय संगीत सम्राट तानसेन, उस्ताद मु० खॉं, बाबा

अलाउद्दीन रहे हैं। रीवा के नरेश राजा रामचन्द्र के शासनकाल (वि. सं. 1612) के समय संगीत सम्राट तानसेन के यहां के गायक थे। तानसेन ग्वालियर नरेश महाराज मानसिंह तोमर के सत्तावसान के पश्चात् रीवा नरेश महाराज रामचन्द्र के दरबार में आये थे। तानसेन ने यहां संगीतसार, रागमाला तथा गणेश श्रोत नामक कालजयी संगीत रचनाएं की थी। इनके शिष्यों में राम सिंह एक उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। मल्हार गायन की विदुषी इनकी शिष्या तानी भी यहीं की थी। वि.सं. 1641 में महाराज रीवा ने तानसेन को सम्राट अकबर के बुलाने पर आगरा भेजा। तानसेन को सम्राट अकबर ने अपने नौ रत्नों में प्रमुख स्थान दिया था। सम्राट अकबर के दरबार में एक बार तानसेन ने दीपक राग गाकर सम्पूर्ण दीपों को जला दिया था, किन्तु वहाँ उपस्थित सभी के शरीर में जलन भी उत्पन्न हो गई थी, तब रीवा की उनकी शिष्या तानी ने मेघ मल्हार राग गाकर वर्षा करायी, तब जाकर जलन शान्त हुई। आगे चलकर रीवा दरबार में सर्वश्री धनसूर, बुध प्रकाश तथा धौंधी आदि ने संगीत के क्षेत्र में अद्भुत कीर्ति अर्जित की। रीवा में बाहर से आने वाले संगीतज्ञों ने भी सम्मान पाया, उनमें हॉसिर खॉं (दिल्ली), सुक्खन खॉं, सक्कर खॉं, कुतुब अली, मो० खॉं, मुबारक अली, अहमद खॉं, मुनव्वर खॉं आदि का नाम प्रमुख है। गोविन्दगढ़ घराने से सर्वश्री बख्तावर (गायक), सीताराम (गायक तथा नृत्यकार), बिहारी जी (नृत्यकार), झब्बा (ख़्याल गायक), करम अली खॉं (वीणा वादक), साधुबाबा, बव्वर जी, जगन्नाथ, रघुनाथ जी (सितार वादक) आदि ने रीवा में अपनी कीर्ति स्थापित की।

निष्कर्ष

शिक्षा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य के सिद्धांत और वैचारिकता की परंपरा को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। शिक्षा ही मनुष्य के बौद्धिक और नैतिक विकास का माध्यम है। विचार-विनियम भी इसी के माध्यम से होता है, साहित्य रचना भी इसी के माध्यम से हुई। इसी शिक्षा ने मनुष्य को अहंकार से निकालकर आगे प्रकाश की ओर बढ़ाया। शिक्षा ही संस्कृति को अग्रसर करती है। शिक्षित जनता ही किसी भी समाज, राष्ट्र की प्रगति कर सकती है। आदिकाल से ही शिक्षा को धार्मिक रूप दिया गया है, जिससे मनुष्य जीवन को सुखपूर्वक यापन कर मोक्ष प्राप्त कर सके। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास और उसका समाज में यथोचित स्थान प्राप्त करना तो है ही; कि वह अपने को एक सुदृढ़ समाज का अंग समझे, राष्ट्र उन्नयन में शिक्षा की अहम् भूमिका है।

19वीं शताब्दी के पूर्व की बघेलखण्डिय शिक्षा मुख्यतः धार्मिक और आध्यात्मिक तत्वों पर निर्मित थी फिर भी सांसारिक जीवन के प्रति वह निरपेक्ष नहीं थी, उसमें लौकिक तत्वों का भी समावेश था। शिक्षा-शिक्षा के लिए नहीं, जीवन के लिए थी। विनयशीलता, अनुशासन और सदाचारिता उसके प्रमुख तत्व थे, जिनकी सहायता से ही जीवन में सफलता संभव मानी गयी थी। विद्वान और चरित्रवान शिक्षकों के निर्देशन में ही छात्र अपने चरित्र का निर्माण करते थे। स्वाध्याय पर बल था। गुरुकुल में गुरु की आज्ञा का सर्वाधिक महत्व था धर्म की आधारशिला पर आधारित इस विशुद्ध शिक्षा प्रणाली में शिक्षा मोक्ष का साधन मानी गई। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली न केवल अपनी समकालीन सभ्यताओं के लिए महत्वपूर्ण थी, अपितु आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में भी उसका महत्व और उपयोग है। डॉ. एफ.ई. की के अनुसार- अपने महान उद्देश्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति के लिए तत्कालीन शिक्षा-शास्त्र ने शिक्षा की जिस विशिष्ट प्रणाली का निर्माण किया था, उसने साम्राज्य के उत्थान, पतन एवं समाज के परिवर्तनों से प्रभावित हुए बिना हजारों वर्षों के बाद भी हमारे देश की शिक्षा की ज्योति को प्रज्वलित रखा।

सन्दर्भ

1. रस मीमांसा ।
2. संस्कृत साहित्यानुशीलन डॉ. रामजी उपाध्याय ।
3. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास डॉ० बल्देव उपाध्याय चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी (उ०प्र०) ।
4. संस्कृत काव्य शास्त्रीय भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन डॉ० हरिदत्त शर्मा शास्त्री ।
5. वा०रा० 1.2.15 ।
6. अलंकारनुशीलन राजवंश सहाय प्रका० चौ० वाराणसी ।
7. साहित्य और समाज से उद्धृत है ।
8. द्र० प्राचीन भारतीय साहित्य विंटरनिट्ज प्रथम भाग प्रथमखण्ड मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी 1961 ।
9. डा. ए.यस. अल्टेकर-इजुकेशन इन एंसीयेन्ट इण्डिया पृष्ठ-8 ।
10. एफ. डब्ल्यू. थॉमस-दि हिस्ट्री एण्ड प्रास्पेक्ट्स ऑफ बिट्रिश एजुकेशन इन इण्डिया । पृष्ठ-1 ।
11. डा. ए. यस. अल्टेकर-एजुकेशन इन एंसीयेन्ट इण्डिया पृष्ठ-8 ।
12. डा. आर.के. मुकर्जी - एंसीयन्ट इण्डियन ऐजुकेशन-पृष्ठ-366 ।
13. डॉ. वेद मित्र - एजुकेशन इन एंसीयेन्ट इण्डिया पृष्ठ - 55-56 ।
14. बघेलखंड के शिक्षाविदों व लेखकों के द्वारा विभिन्न शैक्षणिक आयोजनों में दिये गये उद्बोधन ।
15. रीवा राज्य दर्पण - पृष्ठ 62-64 ।